5. जरमी बैन्थम

अब हम कुछ ऐसे दार्शनिकों के सिद्धांतों पर विचार करेंगे जो सुखमूलक

उपयोगितावाद का समर्थन करते हैं। इन दार्शनिकों में बैन्थम, मिल तथा सिजविक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत खंड में बैन्थम के उपयोगितावादी सिद्धांत पर तथा अगले दो खंडों में क्रमशः मिल और सिजविक के सिद्धांतों पर विचार किया जाएगा।

जरमी बैन्थम (1748-1832) अपने युग के प्रमुख समाजसुधारक थे और उन्हें ही उपयोगितावाद का मुख्य प्रवर्तक माना जाता है। कानून में उनकी विशेष रुचि थी और वे सभी कानूनों को अंततः जन-हित का साधन मानते थे। उनके विचार में किसी कानून अथवा नियम को उसकी सामाजिक उपयोगिता के आधार पर ही न्यायसंगत या उचित माना जा सकता है। परन्तु बैन्थम के मतानुसार किसी कर्म अथवा नियम की उपयोगिता का एकमात्र मापदंड उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाला सुख ही है। इसका अर्थ यही है कि जो कर्म अथवा नियम सुख की उत्पत्ति तथा वृद्धि में जितना अधिक सहायक है वह उतना ही अधिक उपयोगी है। इस प्रकार केवल सुख को उपयोगिता का मापदंड मानने के कारण बैन्थम के सिद्धांत को 'सुखमूलक उपयोगितावाद' की संज्ञा दी जा सकती है।

बैन्थम का यह सुखमूलक उपयोगितावाद मुख्यतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। मनुष्य के समस्त कर्मों का मूल प्रयोजन क्या है, इस प्रश्न का उत्तर बैन्थम ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर ही दिया है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति के सभी कर्म अपने लिए अधिकतम सुख प्राप्त करने तथा दुःख से बचने की इच्छा से ही प्रेरित होते हैं। इसी मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर समस्त मानवीय कर्मों की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख इन दोनों के शासन में रखा है ; ये दोनों ही इस बात का निर्णय करते हैं कि हम कौन सा कर्म करेंगे और हमें कौन-सा कर्म करना चाहिए। स्पष्ट है कि बैन्थम के विचार में प्रत्येक व्यक्ति के समस्त कर्मों का एकमात्र मूल प्रयोजन स्वयं अपने लिये अधिकतम सुख प्राप्त करना ही है। हॉब्स की भांति वे भी मनुष्य को स्वभावतः पूर्णरूपेण स्वार्थी मानते हुए कहते हैं कि वह सदैव केवल अपने हित की कामना करता है और दूसरों के हित के लिए तब तक किसी प्रकार का त्याग नहीं करता जब तक ऐसा करने से स्वयं उसे कोई लाभ न हो। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह दूसरों के सुख-दुःख की चिंता किये बिना केवल अपने लिए अधिकतम सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बैन्थम मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद तथा मनोवैज्ञानिक सुखवाद का पूर्णतया समर्थन करते हैं।

उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों के साथ-साथ बैन्थम ने नैतिक सुखवाद को भी

स्वीकार किया है। उनका मत है कि केवल सुख अपने आप में शुभ अथवा वांछनीय है; अन्य सभी वस्तुएं, गुण या मानसिक अवस्थाएं सुख के साधन के रूप में ही शुभ हैं। बेन्थम ने इसी आधार पर ज्ञान, चरित्र तथा समस्त नैतिक सद्गुणों की वांछनीयता को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार सत्य, संयम ईमानदारी, न्याय आदि सभी नैतिक सद्गुण अपने आप में शुभ न होकर केवल सुख के साधन के रूप में ही शुभ हैं। इसका अर्थ यह है कि सुख की उत्पत्ति एवं वृद्धि में सहायक प्रत्येक कर्म शुभ तथा दुःख की उत्पत्ति और वृद्धि में सहायक प्रत्येक कर्म अशुभ है। इसी नैतिक सुखवाद को स्पष्ट करते हुए बेन्थम ने लिखा है कि "दुःख से मुक्ति अथवा सुख ही अपने आप में शुभ है, इसी प्रकार दुःख बिना किसी अपवाद के अपने आप में अशुभ है; यदि ऐसा नहीं है तो 'शुभ' तथा 'अशुभ' ये दोनों शब्द निरर्थक हैं।"[6]

नैतिक सुखवाद के अनुसार केवल सुख को समस्त मानवीय कर्मों के शुभत्व का मानदंड मानते हुए बेन्थम ने कहा है कि जो कर्म जितना अधिक सुख उत्पन्न करता है वह उतना ही शुभ है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सुख की न्यूनता और अधिकता को कैसे मापा जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में बेन्थम का कथन है कि सुख को मापने के लिए हमें उसकी मात्रा अथवा उसके परिमाण पर ही ध्यान देना चाहिये, क्योंकि गुणात्मक दृष्टि से सभी सुख पूर्णतः समान होते हैं—अर्थात् एक सुख दूसरे सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं होता। सुख के परिमाण को मापने के लिए उन्होंने एक विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे 'सुख-कलन' कहा जाता है। इसके अनुसार सुख की कमी अथवा अधिकता को तीव्रता, अवधि, निश्चितता, निकटता, उत्पादकता, शुद्धता और व्यापकता इन सात तत्त्वों द्वारा ही मापा जा सकता है। ये सात तत्त्व ही सुख की मात्रा के साथ-साथ उसकी वांछनीयता को भी निर्धारित करते हैं। इसका अर्थ यह है कि अधिक तीव्र सुख कम तीव्र सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय है। इसी प्रकार क्षणिक सुख की अपेक्षा अधिक समय तक बने रहने वाले सुख की वांछनीयता अधिक है। अनिश्चित सुख की अपेक्षा ऐसा सुख अधिक वांछनीय है जिसकी प्राप्ति अपेक्षाकृत निश्चित है। सुदूर भविष्य में प्राप्त हो सकने वाले सम्भावित सुख की अपेक्षा तात्कालिक सुख का अधिक महत्त्व है। जो सुख अन्य किसी प्रकार के सुख को उत्पन्न नहीं करता उसकी अपेक्षा वह सुख अधिक वांछनीय है जिससे अन्य समान सुख उत्पन्न होते हैं।

6. जरमी बेन्थम, 'इन्ट्रोडक्शन टु दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन', पृ० 102

इसी प्रकार दुःख मिश्रित सुख की अपेक्षा वह विशुद्ध सुख अधिक वांछनीय है जिसमें किसी प्रकार के दुःख का मिश्रण नहीं है। अंततः केवल एक व्यक्ति तक सीमित सुख की अपेक्षा उस व्यापक सुख का कहीं अधिक महत्व है जिसका बहुत से व्यक्ति उपभोग करते अथवा कर सकते हैं। संक्षेप में बैन्थम के मतानुसार उपर्युक्त सभी सात तत्त्व ही सुख की मात्रा और वांछनीयता दोनों को निश्चित करते हैं। यदि इन तत्त्वों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें से अंतिम तत्त्व को छोड़कर शेष सभी मुख्यतः व्यक्ति के लिए ही सुख की मात्रा और वांछनीयता को निर्धारित करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, स्थाई, निश्चित, निकटवर्ती, उत्पादक तथा दुःखरहित विशुद्ध सुख कम तीव्र, क्षणिक, अनिश्चित, दूरवर्ती, अनुत्पादक और दुःखमिश्रित सुख की अपेक्षा अधिक शुभ अथवा वांछनीय है। परन्तु उपर्युक्त तत्त्वों में से अंतिम तत्त्व व्यापकता अथवा विस्तार सामाजिक सुख की मात्रा तथा वांछनीयता को महत्व देता है। इसके अनुसार जिस सुख का जितने अधिक व्यक्ति उपभोग कर सकें वह उतना ही शुभ या वांछनीय है। वस्तुतः सुख की व्यापकता से सम्बंधित यही तत्त्व बैन्थम के सिद्धांत को स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद से पृथक् करता है। मनुष्य को पूर्णतः स्वार्थी मानते हुए भी बैन्थम यह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने सुख के लिए नहीं अपितु 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के सिद्धांत के अनुसार आचरण करना चाहिये। यह 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही सर्वार्थसुखमूलक उपयोगितावाद का आधारभूत सिद्धांत है। बैन्थम, मिल, सिजविक आदि सभी सुखमूलक उपयोगितावादी इस मूल सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' में सहायक प्रत्येक कर्म शुभ तथा इसमें बाधक प्रत्येक कर्म अशुभ है। बैन्थम ने स्पष्ट कहा है कि यही उपयोगितावादी सिद्धांत मनुष्य के समस्त नैतिक कर्तव्यों को निर्धारित करता है, क्योंकि 'उपयोगिता' के अतिरिक्त नैतिकता का और कोई आधार नहीं हो सकता। उनके विचार में उपयोगितावाद के इस मूल सिद्धांत के अनुसार आचरण करते समय सभी व्यक्तियों के सुख को समान महत्व देना बहुत आवश्यक है। बैन्थम ने सभी व्यक्तियों में सुख के इसी न्यायपूर्ण वितरण को दृष्टि में रखकर एक विशेष सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार 'प्रत्येक व्यक्ति का महत्व केवल एक व्यक्ति का ही महत्व है, इससे अधिक नहीं।' स्पष्ट है कि यह सिद्धांत सुख की अधिकतम उत्पत्ति के साथ-साथ उसके न्यायपूर्ण वितरण को भी विशेष महत्व देता है किंतु, जैसाकि हम आगे देखेंगे, व्यावहारिक जीवन में सदैव इसके अनुसार

आचरण करना अत्यंत कठिन है। फिर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि निष्पक्षता या समानता के इस सिद्धांत का प्रतिपादन करके बैन्थम ने उपयोगिता के साथ-साथ न्याय की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है और इस प्रकार अपने उपयोगितावाद को स्वार्थमूलक सुखवाद की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद बनाने का प्रयास किया है।

परन्तु यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्वार्थवाद तथा मनोवैज्ञानिक सुखवाद में विश्वास करते हुए भी बैन्थम उपयोगितावाद का समर्थन कैसे कर सकते हैं। यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है और केवल अपने लिए अधिकतम सुख की खोज करता है तो उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के अनुसार ही आचरण करे ? स्वयं बैन्थम ने यह प्रश्न उठाया है कि पूर्णतः स्वार्थी होते हुए भी मनुष्य सामाजिक हित अथवा सुख के लिए कार्य क्यों करता है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि मुख्य चार कारणों से प्रत्येक व्यक्ति को अपने सुख के साथ-साथ दूसरों के सुख का भी ध्यान रखना पड़ता है। ये चार कारण हैं: भौतिक दबाव, राजनैतिक दबाव, सामाजिक दबाव, तथा धार्मिक दबाव। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जिन प्राकृतिक नियमों का पालन करना आवश्यक है, उन्हें बैन्थम ने 'भौतिक दबाव' कहा है। प्रत्येक व्यक्ति यह भलीभांति जानता है कि यदि वह राजनैतिक कानूनों तथा सामाजिक नियमों का उल्लंघन करके दूसरों को कष्ट पहुंचायेगा तो राज्य उसे दंड दे सकता है और समाज उसकी भर्त्सना अथवा निंदा कर सकता है जिसके फलस्वरूप उसका अपना जीवन दुःखमय हो सकता है। परोपकारी व्यक्ति की समाज प्रशंसा करता है। इससे उसे जो सुख प्राप्त होता है वह स्वार्थी को नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त बहुत-से व्यक्ति यह भी विश्वास करते हैं कि यदि वे दूसरों को हानि पहुंचाएंगे तो ईश्वर उन्हें कठोर दंड देगा। उदाहरण के लिए मृत्यु के पश्चात् उन्हें नर्क की घोर यातना भोगनी पड़ेगी। इसके विपरीत अच्छे कर्म (परोपकार) करने वालों से ईश्वर प्रसन्न होगा और उन्हें सुख मिलेगा। इस प्रकार बैन्थम के मतानुसार राज्य, समाज अथवा ईश्वर द्वारा दंडित किये जाने के भय से अथवा पुरस्कृत किये जाने के आकर्षण से मनुष्य अपने सुख के साथ-साथ दूसरों के सुख का भी ध्यान रखने के लिए प्रेरित होता है। परन्तु यह मत केवल अंशतः ही सत्य प्रतीत होता है। यह सत्य है कि बैन्थम द्वारा बताये गये कारण प्रायः मनुष्य को कुछ अच्छे कार्य करने और बुरे कार्य न करने को प्रेरित करते हैं। परन्तु इन कारणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सभी व्यक्तियों के लिए अपने सुख का परित्याग करके अधिकतम

व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धांत के अनुसार आचरण करना ही तर्क-संगत एवं उचित है और इसी सिद्धांत के अनुसार उन्हें आचरण करना चाहिए। सभी व्यक्तियों और परिस्थितियों के विषय में यह सत्य मान लेना भी ठीक नहीं लगता कि दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का परित्याग करने से स्वयं व्यक्ति को भी सुख मिलता है और ऐसा न करने से उसे कष्ट होता है। उदाहरण के लिए क्या ऐसे व्यक्ति नहीं मिलेंगे जो कहें कि उन्हें समाज की प्रशंसा या भर्त्सना की परवाह नहीं? यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि समाज अथवा राज्य द्वारा जिन कार्यों की प्रशंसा होती है वे नैतिक और जिनकी भर्त्सना होती है वे अनैतिक होते हैं। कुछ नीतिशास्त्रज्ञ यह कहेंगे कि केवल बाह्य दबावों के कारण कोई कार्य करना वास्तविक अर्थ में नैतिकता नहीं है।

बैन्थम के सिद्धांत के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति के अतिरिक्त यह आपत्ति भी उठायी जा सकती है कि उन्होंने सुख के परिमाण को मापने के लिए जो सुख-कलन प्रस्तुत किया वह बहुत अव्यावहारिक एवं असंतोषजनक है, क्योंकि इसके आधार पर सुख की मात्रा को निश्चित नहीं किया जा सकता। बैन्थम ने यह मान लिया है कि भौतिक वस्तुओं की भांति सुखद अनुभूतियों को भी मापा-तौला जा सकता है, किंतु वास्तव में उनकी यह मान्यता नितान्त भ्रामक है। हम पिछले अध्याय में ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भौतिक वस्तुओं के विपरीत सुख पूर्णतः वैयक्तिक अनुभूति है, अतः उसकी मात्रा का ठीक-ठीक निश्चय करना सम्भव नहीं है। किसी भी व्यक्ति के लिए निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि उसे किस वस्तु या कर्म से कितना अधिक अथवा कितना कम सुख प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में एक ही समय पर अथवा भिन्न-भिन्न समयों पर विभिन्न कर्मों या वस्तुओं से प्राप्त सुख की ठीक-ठीक तुलना करना उसके लिए सम्भव नहीं है। इसी प्रकार हम यह निश्चयपूर्वक कभी नहीं जान सकते कि बहुत-से व्यक्तियों में से प्रत्येक व्यक्ति को हमारे किस कर्म द्वारा कितना कम अथवा अधिक सुख प्राप्त होता है या हो सकता है। स्पष्ट है कि हमारे पास इस तथ्य को निश्चित करने का कोई उपाय नहीं है कि हमारे किस कर्म से अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त बैन्थम ने सुख की वांछनीयता को मापने के लिए जो तत्त्व बताए हैं उनके आधार पर यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौनसी सुखद अनुभूति अधिक वांछनीय है और कौन-सी कम। यदि दो सुखद अनुभूतियों में से एक क्षणिक किंतु बहुत तीव्र है और दूसरी अपेक्षाकृत अधिक समय तक बनी रहने वाली किंतु कम तीव्र है तो यह कहना बहुत कठिन है कि इनमें से कौन-सी अनुभूति अधिक वांछनीय है। उदाहरणार्थ हमें बहुत स्वादिष्ट

मिठाई खाने से क्षणिक किंतु तीव्र सुख प्राप्त होता है जबकि एक उत्कृष्ट उपन्यास पढ़ने से हम जिस सुख का अनुभव करते हैं वह अपेक्षाकृत स्थायी किंतु कम तीव्र होता है। यह कहना बहुत कठिन है कि इन दो प्रकार के सुखद अनुभवों में से बैन्थम के मतानुसार कौन-सा अधिक वांछनीय है। तीव्रता के आधार पर स्वादिष्ट मिठाई से प्राप्त सुख को ही अधिक वांछनीय मानना पड़ेगा जबकि अवधि के आधार पर उपन्यास से प्राप्त सुख ही अधिक वांछनीय माना जाएगा। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि बैन्थम के सिद्धांत के अनुसार सुख की वांछनीयता को ठीक-ठीक निर्धारित करन भी असम्भव है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सुखकलन के अन्तर्गत बैन्थम द्वारा बताये गये तत्त्वों के आधार पर न तो सुख की मात्रा को ठीक-ठीक निश्चत किया जा सकता है और न उसकी वांछनीयता को। ऐसी स्थिति में उनके मूल 'सिद्धांत अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के अनुसार आचरण करना निश्चय ही असम्भव है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि बैन्थम का सुखमूलक उपयोगितावाद स्वार्थमूलक सुखवाद की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद होते हुए भी पूर्णतः उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

6. जॉन स्टुअर्ट मिल

जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) ने बैन्थम द्वारा प्रतिपादित सुखमूलक उपयोगितावाद को अधिक विकसित तथा युक्तिसंगत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मिल उन्नीसवीं शताब्दी के अत्यन्त प्रतिभाशाली विचारक थे। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा दर्शन में उनकी विशेष रुचि थी, अत इन विषयों से सम्बंधित उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। नीतिशास्त्र पर उनकी एकमात्र पुस्तक 'युटिलिटेरियनिज्म' है जिसमें उन्होंने उपयोगितावाद के सम्बंध में विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किये हैं। यद्यपि सुख के स्वरूप के विषय में वे बैन्थम से पूर्णतः सहमत नहीं हैं, फिर भी उन्होंने मूलतः उसी सिद्धांत को स्वीकार किया है जिसका प्रतिपादन बैन्थम ने किया था। इसी कारण उन्हें भी 'सुखमूलक उपयोगितावादी' कहा जा सकता है।

बैन्थम की भांति मिल भी मूलतः नैतिक सुखवाद में विश्वास करते हैं। उनका मत है कि कोई भी कर्म उसी अनुपात में शुभ अथवा अशुभ है जिस अनुपात में उसके फलस्वरूप सुख या दुःख की उत्पत्ति होती है। वे भी केवल सुख को स्वतःसाध्य शुभ मानते हुए अन्य सभी वस्तुओं, गुणों तथा मानसिक अवस्थाओं को उसके साधन के रूप में ही शुभ अथवा वांछनीय मानते हैं। मिल के मतानुसार उस वस्तु, गुण या मानसिक अवस्था का कोई महत्त्व नहीं

है जो किसी न किसी रूप में सुख की उत्पत्ति या वृद्धि अथवा दुःख के निवारण या उसकी कमी में सहायक नहीं है। परन्तु बेन्थम की भांति मिल भी स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद को स्वीकार न करते हुए व्यक्ति के सुख के स्थान पर अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही मनुष्य के समस्त नैतिक कर्तव्यों का मूल आधार मानते हैं। उनके विचार में इस उपयोगितावादी मूल सिद्धान्त के अनुसार किया गया प्रत्येक कर्म शुभ तथा इसके विरुद्ध किया गया प्रत्येक कर्म अशुभ है। इस प्रकार मिल भी बेन्थम के इस विचार से पूर्णतः सहमत हैं कि उपयोगिता ही नैतिकता का एकमात्र मूल आधार है और उन्होंने भी उपयोगिता की सुख-वादी व्याख्या की। उन्होंने बेन्थम द्वारा मान्य निष्पक्षता अथवा समानता के सिद्धांत का भी समर्थन किया है और यह कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का समान महत्त्व है। स्पष्ट है कि मिल भी अधिकतम सुख की उत्पत्ति के साथ-साथ उसके न्यायपूर्ण वितरण को भी बहुत आवश्यक मानते हैं।

बेन्थम की भांति मिल भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद में विश्वास करते हैं और उन्होंने इसी के आधार पर नैतिक सुखवाद के औचित्य को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में सदैव केवल सुख की इच्छा करता है, अतः सुख अपने आप में शुभ अथवा वांछनीय है। हम अन्य सभी वस्तुओं की इच्छा सुख के साधन के रूप में ही करते हैं; इसी कारण वे अपने आप में शुभ या वांछनीय नहीं हो सकतीं। हम पिछले अध्याय में यह बता चुके हैं कि मिल 'सुख' तथा 'आनंद' इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं और इनमें कोई भेद नहीं मानते। इसी व्यापक अर्थ में केवल सुख को स्वतःसाध्य शुभ मानते हुए वे कहते हैं कि "दुःख से मुक्ति तथा सुख ही ऐसी वस्तुएं हैं जो साध्य के रूप में वांछनीय हैं।...किसी वस्तु को वांछनीय मानना और उसे सुखद मानना एक ही बात है।...केवल सुख ही साध्य के रूप में वांछनीय है; अन्य सभी वस्तुएं उसके साधन के रूप में ही वांछनीय हैं।"[7] अब प्रश्न यह है कि केवल सुख के स्वतःसाध्य शुभ होने का प्रमाण क्या है—अर्थात् केवल सुख को ही अपने आप में वांछनीय क्यों माना जाय। इसके उत्तर में मिल का कथन है कि 'अन्तिम साध्य के विषय में प्रमाण' के साधारण अर्थ में कोई निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। अतः सुख को अंतिम साध्य सिद्ध करने के लिए हम कोई निश्चित प्रमाण नहीं दे सकते। परन्तु 'प्रमाण' के व्यापक अर्थ में 'प्रमाण' दिया जा सकता है। इसी व्यापक अर्थ में वे अपने नैतिक सिद्धांत, सुखमूलक, उपयोगितावाद के समर्थन

7. जे. एस. मिल, 'युटिलिटेरियनिज़्म', पृ० 10, 52, 58

में यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि "किसी वस्तु के दृश्य होने का एकमात्र प्रमाण यही है कि लोग उसे वास्तव में देखते हैं। किसी ध्वनि के श्रव्य होने का एकमात्र प्रमाण यही है कि लोग उसे वास्तव में सुनते हैं। इसी प्रकार मैं यह समझता हूं कि 'कोई वस्तु वांछनीय है' इसे प्रमाणित करने के लिए केवल यही प्रम' दिया जा सकता है कि लोग वास्तव में उसकी इच्छा करते हैं।···सभी व्यक्ति के सुख को वांछनीय सिद्ध करने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता कि जहां तक प्रत्येक व्यक्ति सुख को प्राप्य समझता है वह स्वयं अपने लिए सुख की इच्छा करता है।" उपर्युक्त उद्धरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि मिल ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर ही नैतिक सुखवाद को उचित प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि वे इसी सिद्धांत के आधार पर 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के सिद्धांत को भी प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। "प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए शुभ है, अतः 'सामान्य सुख' व्यक्तिसमुच्चय के लिए शुभ है।"[8]

यद्यपि मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद को स्वीकार करते हुए केवल सुख को ही मनुष्य की समस्त इच्छाओं का मूल प्रयोजन मानते हैं और यह कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति सुख के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की स्वतःसाध्य शुभ के रूप में इच्छा नहीं कर सकता, फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि कभी-कभी कुछ व्यक्ति अन्य वस्तुओं को भी अपने-आप में वांछनीय मानकर उनकी इच्छा करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ व्यक्ति धन, यश, सत्ता, सद्गुण आदि को अपने-आप में शुभ अथवा वांछनीय मानकर इन सबकी या इनमें से किसी एक की इच्छा करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न विचारणीय है कि कुछ व्यक्ति सुख के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की स्वतःसाध्य शुभ के रूप में क्यों इच्छा करते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मिल ने कहा कि ये व्यक्ति प्रारम्भ में इन सभी वस्तुओं की सुख के साधन के रूप में ही इच्छा करते हैं, किंतु कुछ समय के पश्चात् इनके द्वारा प्राप्त सुखद अनुभवों के कारण वे इन्हें अपने-आप में शुभ मानकर इनकी इच्छा करने लगते हैं। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति अब धन को अपने आप में शुभ मानकर उसकी इच्छा करता है वह प्रारम्भ में इस धन को सुख के साधन के रूप में ही चाहता था, परंतु धीरे-धीरे वह इस तथ्य को भूल गया और धन को अपने-आप में वांछनीय मानकर उसकी इच्छा करने लगा। यही बात सत्ता, यश, सद्गुण आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस प्रकार मिल के मतानुसार आज हम सुख के अतिरिक्त जिन अन्य

8. वही पुस्तक, पृ० 52-53

वस्तुओं को अपने आप में शुभ मानकर चाहते हैं उन्हें हम वस्तुतः प्रारम्भ में सुख के साधन के रूप में ही चाहते थे, किंतु हमारे सुखद अनुभवों से निरंतर सम्बद्ध होने के कारण ये वस्तुएं अब हमारे लिए अपने-आप में वांछनीय हो गयी हैं। संक्षेप में उपर्युक्त तर्क द्वारा मिल ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि सुख के अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुओं को स्वतःसाध्य शुभ मानकर इसी रूप में उनकी इच्छा करने से मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खंडन नहीं होता। किंतु हम आगे देखेंगे कि उनका यह तर्क पूर्णतः संतोषप्रद नहीं है।

उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत के सम्बंध में बैन्थम से सहमत होते हुए भी मिल उनके इस मत को स्वीकार नहीं करते कि सुखों में केवल परिमाणात्मक भेद ही हो सकता है, गुणात्मक नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि बैन्थम सुखों में गुणात्मक भेद की पूर्णतः उपेक्षा करके केवल मात्रा अथवा परिमाण की दृष्टि से ही विभिन्न सुखद अनुभवों को कम या अधिक वांछनीय मानते हैं। इसी कारण उन्होंने कहा था कि सुख की मात्रा समान होने पर साधारण क्रीड़ा तथा उत्कृष्ट कविता से प्राप्त सुख में कोई अंतर नहीं है। इसका अर्थ यही है कि गुण की दृष्टि से एक सुखद अनुभव दूसरे सुखद अनुभव की अपेक्षा कम अथवा अधिक वांछनीय नहीं हो सकता। परंतु मिल सुख की वांछनीयता के सम्बंध में बैन्थम के इस मानदंड को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनके विचार में यह मानदंड अपूर्ण और एकांगी है। बैन्थम के विपरीत उनका कथन है कि सुख में परिमाणात्मक भेद के साथ-साथ गुणात्मक भेद भी होता है। वे यह मानते हैं कि सुख की मात्रा के समान होने पर भी गुणात्मक दृष्टि से कुछ सुखद अनुभव दूसरे सुखद अनुभवों की अपेक्षा कम या अधिक वांछनीय होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मिल के मतानुसार विभिन्न सुखद अनुभवों की वांछनीयता को उनके गुण के आधार पर भी निश्चित करना चाहिए, केवल उनसे प्राप्त सुख के परिमाण के आधार पर नहीं। सुख के इसी गुणात्मक भेद को दृष्टि में रखकर उन्होंने शारीरिक सुख की अपेक्षा मानसिक अथवा बौद्धिक सुख को अधिक मूल्यवान् तथा वांछनीय माना है। उनका विचार है कि हमें दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक चिंतन और कविता, संगीत आदि ललित कलाओं से जो सुख प्राप्त होता है वह इंद्रिय सुख की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए मिल ने कहा है कि "मनुष्यों में पाशविक प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि की प्रवृत्तियां होती हैं, और जब उन्हें इन उत्कृष्ट प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है तो वे किसी ऐसी वस्तु को सुखद नहीं मानते जिससे इन प्रवृत्तियों की संतुष्टि नहीं होती।···इस तथ्य को स्वीकार करना उपयोगिता के सिद्धांत के अनुरूप ही

है कि कुछ सुख अन्य सुखों की अपेक्षा अधिक वांछनीय तथा अधिक मूल्यवान् हैं। हम अन्य सभी वस्तुओं का मूल्यांकन करते समय उनके गुण तथा परिमाण दोनों पर विचार करते हैं ; ऐसी स्थिति में यह सोचना मूर्खतापूर्ण बात होगी कि सुख का मूल्यांकन केवल उसके परिमाण पर ही निर्भर है।"[9] इस प्रकार बैन्थम के विपरीत मिल गुणात्मक दृष्टि से इंद्रिय सुख को 'अपेक्षाकृत' निकृष्ट तथा मानसिक अथवा बौद्धिक सुख को उत्कृष्ट मानते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि सुख की श्रेष्ठता का निर्णय करने का वास्तविक एवं योग्य अधिकारी कौन है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मिल ने कहा है कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में निम्नकोटि तथा उच्चकोटि दोनों प्रकार के सुखों का व्यापक अनुभव प्राप्त किया है केवल वही इस बात का निर्णय कर सकता है कि वास्तव में कौन-सा सुख निकृष्ट और कौन-सा उत्कृष्ट है। हमें ऐसे अनुभवी व्यक्तियों के निर्णय को स्वीकार करना चाहिए और उन्हीं सुखों को निकृष्ट अथवा उत्कृष्ट मानना चाहिए जिन्हें वे निकृष्ट या उत्कृष्ट मानते हैं। मिल के मतानुसार किसी सुख की निकृष्टता एवं उत्कृष्टता के सम्बंध में ऐसे अनुभवी व्यक्तियों का निर्णय ही अंतिम निर्णय है जिसके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति को साधारण खेलों से प्राप्त सुख के साथ-साथ साहित्य, संगीत, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक चिंतन से प्राप्त सुख का भी पर्याप्त अनुभव है और वह प्रथम प्रकार के सुख की अपेक्षा दूसरे प्रकार के सुख को उत्कृष्ट मानता है तो हमें उसके इस निर्णय को स्वीकार करना चाहिए। मिल का यह भी विचार है कि ऐसे योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति शारीरिक सुख की अपेक्षा बौद्धिक सुख को निश्चय ही अधिक श्रेष्ठ मानेंगे। वस्तुतः मिल स्वयं यह मानते हैं कि अधिक तीव्र शारीरिक सुख की अपेक्षा कम तीव्र बौद्धिक सुख गुणात्मक दृष्टि से कहीं अधिक उत्कृष्ट होता है। उन्होंने अपने इसी मत को निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य में स्पष्टतः व्यक्त किया है; "एक संतुष्ट शूकर होने की अपेक्षा असंतुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है; संतुष्ट मूर्ख होने की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना कहीं अधिक अच्छा है।"[10] वस्तुतः मिल के उपर्युक्त कथन से उनके सुखवादी होने में ही संदेह उत्पन्न होता है। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे उस अपरिष्कृत इंद्रियपरक सुखवाद को स्वीकार नहीं करते जिसका समर्थन सैरेनिक सम्प्रदाय ने किया है। उनका सुखवाद ऐपिक्यूरस के सुखवाद से भी भिन्न है,

9. वही पुस्तक, पृ० 11
10. वही पुस्तक, पृ० 14

क्योंकि ऐपिक्यूरस सुख में गुणात्मक भेद नहीं मानते थे। हम आगे देखेंगे कि मिल का उपर्युक्त कथन तथा उनके द्वारा सुखों में गुणात्मक भेद को मान्यता देना उन्हें सुखवाद से बहुत दूर ले जाता है। वस्तुतः सुख के सम्बंध में मिल के इन्हीं विचारों के कारण अनेक दार्शनिकों ने यह कहा है कि उनके उपयोगितावाद में आत्मसंगति का अभाव है—अर्थात् वे स्वयं अपने मूल सिद्धांत सुखवाद का खंडन करते हैं।

यहां इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद में विश्वास करते हुए भी मिल किस आधार पर उपयोगितावाद का समर्थन करते हैं। यदि मनुष्य स्वभावतः केवल अपने लिए अधिकतम सुख की इच्छा करता है तो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के अनुसार ही आचरण करना उसका कर्तव्य कैसे माना जा सकता है। हम देख चुके हैं कि बैन्थम ने राज्य, समाज तथा ईश्वर के दंड से सम्बंधित कुछ बाह्य तत्त्वों पर आधारित दबावों के द्वारा इस समस्या का समाधान किया है। मिल भी इन बाह्य दबावों को स्वीकार करते हैं, किंतु उनके विचार में केवल इन्हीं दबावों से बाध्य होकर दूसरों के सुख के लिए कार्य करना स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र है। इसी कारण वे उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए इन बाह्य दबावों को ही पर्याप्त नहीं मानते। उनके मतानुसार इन बाह्य दबावों के अतिरिक्त एक आंतरिक दबाव भी है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य दूसरों के सुख के लिए कार्य करता है। यह आंतरिक दबाव किसी बाह्य तत्त्व पर आधारित न होकर मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक भावना पर आधारित है। मिल का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य में दूसरों के साथ मिलकर रहने तथा उनके सुख दुःख का ध्यान रखने की स्वाभाविक इच्छा होती है। वह अपने आप को समाज का ही अभिन्न अंग समझता है, अतः दूसरों के प्रति उसके मन में स्वभावतः सहानुभूति उत्पन्न होती है। इस सामाजिक भावना तथा सहानुभूति से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करता है। मनुष्य की परोपकार सम्बंधी इसी स्वाभाविक भावना को मिल ने 'आन्तरिक दबाव' की संज्ञा दी है जो उनके विचार में प्रत्येक सहृदय तथा सुसंस्कृत व्यक्ति को उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करता है। कर्तव्य-पालन में उसे स्वभावतः सुख का अनुभव होता है तथा कर्तव्य-उल्लंघन में पश्चात्ताप अथवा दुःख का। वे यह स्वीकार करते हैं कि कुछ व्यक्तियों में यह स्वाभाविक परोपकारवृत्ति स्वार्थसिद्धि की प्रबल भावना के कारण दब जाती है। ऐसे व्यक्ति बाह्य दबावों से बाध्य होकर ही दूसरों के सुख दुःख का ध्यान रखते

है। परन्तु मिल का विचार है कि अधिकतर व्यक्तियों में यह सामाजिक भावना अवश्य विद्यमान रहती है जिससे प्रेरित होकर वे अपने सुख के साथ-साथ दूसरों के सुख का भी ध्यान रखते हैं। इस प्रकार मिल के विचार में मनुष्य की सामाजिक भावना अथवा परोपकारवृत्ति पर आधारित यह आंतरिक दबाव ही नैतिकता का मूल स्रोत है। इस स्वाभाविक भावना के कारण ही मनुष्य दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है जैसे व्यवहार की वह स्वयं उनसे आशा करता है। मिल ने स्पष्ट कहा है कि उपयोगितावादी नैतिकता मूलतः मनुष्य की इसी स्वाभाविक परोपकारवृत्ति अथवा सामाजिक भावना पर आधारित है।

अभी तक हमने मिल के सिद्धांत की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है। अब हम संक्षेप में उनके सिद्धांत की कुछ प्रमुख कठिनाइयों पर विचार करेंगे। हम देख चुके हैं कि बैन्थम की भांति वे भी उपयोगितावाद को मूलतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर ही आधारित मानते हैं। परंतु, जैसा कि पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है, मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित स्वार्थमूलक नैतिक सुखवाद के विरुद्ध प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में केवल अपने सुख की इच्छा करता है तो यह कहना निरर्थक है कि उसे केवल अपने सुख की इच्छा करनी चाहिए। इसी प्रकार उपयोगितावाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित मानने के कारण बैन्थम तथा मिल के विरुद्ध भी यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने लिए सुख चाहता है तो यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि उसे अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धांत के अनुसार ही आचरण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर उपयोगितावाद का समर्थन नहीं किया जा सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मिल ने मनुष्य में जिस परोपकारवृत्ति अथवा सामाजिक भावना का आधार प्रस्तुत किया है उससे मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खंडन होता है। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य इस सामाजिक भावना से प्रेरित होकर दूसरों के सुख के लिए कार्य करता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए ही सुख चाहता है। स्पष्ट है कि मनुष्य में सामाजिक भावना अथवा परोपकारवृत्ति को स्वीकार करके मिल ने स्वयं मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खंडन किया है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथा स्वार्थवाद के आधार पर उपयोगितावाद के औचित्य को प्रमाणित करने का कोई युक्तिसंगत उपाय

नहीं है। बैंन्थम और मिल दोनों के नैतिक सिद्धांतों के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है।

मिल के सिद्धांत के विरुद्ध दूसरी मुख्य आपत्ति यह है कि उन्होंने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' अथवा 'सामान्य सुख' के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे दोषपूर्ण हैं। मिल ने जिस उदाहरण द्वारा सुख की वांछनीयता को समझाने का प्रयत्न किया है वह बहुत भ्रामक है। उन्होंने 'वांछनीय' शब्द की तुलना 'दृश्य' और 'श्रव्य' शब्दों से की है, किंतु यह तुलना उचित नहीं है। यह ठीक है कि हम जिस वस्तु को देखते हैं उसे 'दृश्य' तथा जिस ध्वनि को सुनते हैं उसे 'श्रव्य' कहा जाता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं वह वास्तव में 'वांछनीय' हो। इसका कारण यह है कि 'वांछनीय शब्द का अर्थ 'इच्छित' शब्द से बहुत भिन्न है। हम ऐसी वस्तु को 'वांछनीय' नहीं कहते जिसकी इच्छा की जाती है अपितु उस वस्तु को 'वांछनीय' कहते हैं जिसकी इच्छा की जानी चाहिए—अर्थात् जिसकी इच्छा करना हमारे लिए उचित है। परंतु मिल ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया और अंग्रेजी के 'डिजायरेबल' शब्द को 'विज़िबल' तथा 'ऑडिबल' शब्दों के समान ही मानकर प्रत्येक 'इच्छित' वस्तु को 'वांछनीय' मान लिया है। इसी प्रकार मिल ने प्रत्येक व्यक्ति के सुख की वांछनीयता के आधार पर सभी व्यक्तियों के सामान्य सुख की वांछनीयता के सम्बंध में जो निष्कर्ष निकाला है वह भी उचित नहीं है। वे कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए शुभ है, अतः सभी व्यक्तियों का सामान्य सुख सबके लिए शुभ है। परंतु यह तर्क दोषपूर्ण है, क्योंकि वैयक्तिक अनुभूति होने के कारण सुख व्यक्ति-विशेष तक ही सीमित रहता है; ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों के सुख का योग सम्भव नहीं है जिसे मिल ने 'सामान्य सुख' की संज्ञा दी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मूलतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद में विश्वास करने के कारण वे सामान्य सुख की वांछनीयता को भलीभांति प्रमाणित नहीं कर सके।

मिल के सिद्धांत की तीसरी प्रमुख कठिनाई यह है कि वे केवल सुखवाद में विश्वास करते हुए भी सुख में गुणात्मक भेद स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि सुख की वांछनीयता का मानदंड केवल उसकी मात्रा नहीं है। वे यह मानते हैं कि कम तीव्र बौद्धिक सुख अधिक तीव्र शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् अथवा वांछनीय है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि मानसिक अथवा बौद्धिक सुख में ऐसा कौन-सा तत्त्व है जो उसे शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् या वांछनीय बनाता है। मिल ने

इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। यदि सुख ही अपने आप में शुभ है जैसा कि वे मानते हैं तो इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि अधिक मात्रा अथवा परिमाण वाला सुख ही अधिक वांछनीय है। हम देख चुके हैं कि बैन्थम ने सुखवाद के इस अनिवार्य निष्कर्ष को स्वीकार किया है, किंतु मिल उनसे सहमत नहीं हैं। बैन्थम के विपरीत उनका विचार है कि सुख की वांछनीयता उसके परिमाण द्वारा नहीं अपितु उसके गुण द्वारा भी निर्धारित होती है। परंतु उन्होंने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि वह कौन-सा गुण है जिसकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति किसी सुख को वांछनीय या अवांछनीय बनाती है। निश्चय ही यह गुण सुख के अतिरिक्त कुछ और ही हो सकता है जो विभिन्न प्रकार के सुखों की वांछनीयता निर्धारित करता है। इसका अभिप्राय यह है कि सुख से भिन्न यह गुण अपने आप में शुभ है जिस पर सुख की वांछनीयता निर्भर है। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो सुखवाद का स्वतः खंडन हो जाता है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार सुख के अतिरिक्त और कुछ भी अपने आप में शुभ अथवा वांछनीय नहीं है। वस्तुतः कोई भी सुखवादी अपने सिद्धांत में आत्मसंगति बनाये रखते हुए सुख से भिन्न किसी अन्य गुण को अपने आप में शुभ नहीं मान सकता। परंतु इंद्रिय सुख की अपेक्षा बौद्धिक सुख को अधिक मूल्यवान् अथवा वांछनीय मानते हुए जब मिल यह कहते हैं कि संतुष्ट पशु होने की अपेक्षा असंतुष्ट मानव होना तथा संतुष्ट मूर्ख होने की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना अधिक अच्छा है तो वे सुख के अतिरिक्त किसी अन्य गुण को भी अपने आप में शुभ मान लेते हैं और इस प्रकार अपने सिद्धांत सुखवाद का स्वय ही खंडन करते हैं। इसी कारण अनेक विचारकों ने मिल के विरुद्ध यह ठीक ही कहा है कि उनके सिद्धांत में आत्मसंगति का अभाव है। उदाहरणार्थ मिल के सिद्धांत में आत्मसंगति के इसी अभाव को स्पष्ट करते हुए मूर ने लिखा है कि "यदि आप कहें, जैसा कि मिल कहते हैं, कि सुख के गुण पर ध्यान देना आवश्यक है, तो आप यह नहीं मान रहे हैं कि सुख ही अपने आप में शुभ है, क्योंकि सुख के गुण को स्वीकार करके आप परोक्ष रूप से यह मान लेते हैं कि सुख के अतिरिक्त कुछ और भी, जो सभी सुखों में विद्यमान नहीं है, अपने आप में शुभ है।...यदि हम वास्तव में यह मानते हैं कि केवल सुख ही स्वतः साध्य शुभ है तो हमें बैन्थम के इस मत को स्वीकार करना पड़ेगा कि सुख की मात्रा के समान होने पर साधारण क्रीडा उतनी ही शुभ है जितनी कविता।"[11]

मिल के सिद्धांत के विरुद्ध मूर की उपर्युक्त आपत्ति निश्चय ही उचित है।

परंतु सुखवाद के विरुद्ध होते हुए भी मिल का यह मत सामान्यतः उचित माना जाता है कि शारीरिक सुख की अपेक्षा मानसिक या बौद्धिक सुख अधिक मूल्यवान् अथवा वांछनीय है। प्रश्न यह है कि इस मत को स्वीकार करने का मूल आधार क्या है—अर्थात् किन तत्वों के आधार पर हम इंद्रिय सुख की अपेक्षा बौद्धिक सुख को अधिक उत्कृष्ट तथा वांछनीय मानते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में सम्भवतः निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—(1) अपेक्षाकृत अधिक समय तक बना रहने वाला सुख क्षणिक सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस तथ्य की ओर एपिक्यूरस ने संकेत किया था और बैन्थम ने भी इसे स्वीकार किया है। (2) जो सुख अतृप्त शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति पर निर्भर है उसकी अपेक्षा वह सुख अधिक वांछनीय है जो इन प्राकृतिक इच्छाओं पर निर्भर नहीं है। प्लेटो तथा अरस्तू ने इसी आधार पर इंद्रिय सुखों की अपेक्षा बौद्धिक सुखों को अधिक उत्कृष्ट एवं मूल्यवान् माना है। (3) जिस सुख को दूसरों के साथ मिलकर भोगने से उसमें कमी आती है अथवा बाधा पड़ती है उस सुख की अपेक्षा वह सुख अधिक वांछनीय है जिसमें दूसरों के सहयोग से कमी नहीं आती अपितु वृद्धि ही होती है। (4) जिस सुख के फलस्वरूप मनुष्य अपेक्षाकृत शीघ्र ही ऊब जाता है उस सुख की अपेक्षा वह सुख अधिक वांछनीय है जो मनुष्य में बहुत शीघ्र ऊब उत्पन्न नहीं करता। उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर शारीरिक सुख तथा बौद्धिक सुख की तुलना करने से ज्ञात होता है कि बौद्धिक सुख शारीरिक सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय है। प्रत्येक शारीरिक सुख अपेक्षाकृत क्षणिक ही होता है; वह किसी अतृप्त प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति का परिणाम होने के कारण केवल उसी पर निर्भर रहता है; अन्य व्यक्तियों को सम्मिलित करने से उसमें कमी आती है अथवा बाधा पड़ती है; वह मनुष्य में अपेक्षाकृत अधिक शीघ्र ऊब उत्पन्न करता है। इसके विपरीत बौद्धिक सुख अपेक्षाकृत अधिक समय तक बना रहता है; वह किसी अतृप्त प्राकृतिक इच्छा की पूर्ति का अनिवार्य परिणाम न होने के कारण केवल उसी पर आधारित नहीं होता; अन्य व्यक्तियों को सम्मिलित करने से उसमें कमी अथवा बाधा के स्थान पर वृद्धि होती है; वह मनुष्य में बहुत शीघ्र ऊब उत्पन्न नहीं करता। इन्हीं तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ, कोमल वस्तु के स्पर्श आदि से प्राप्त समस्त इंद्रिय सुखों की अपेक्षा साहित्य, कला, दर्शन, चिंतन-मनन आदि से प्राप्त मानसिक या बौद्धिक सुख अधिक उत्कृष्ट तथा वांछनीय हैं। यह सत्य है कि शारीरिक तथा बौद्धिक सुखों में कोई स्पष्ट

एवं निश्चित सीमा-रेखा खींचना बहुत कठिन है, किंतु फिर भी स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ से प्राप्त इंद्रिय सुख तथा उत्कृष्ट साहित्य के रसास्वादन से प्राप्त मानसिक सुख में निश्चय ही पर्याप्त भिन्नता है। ऊपर बताये गये चार तथ्यों के आधार पर हम मिल के इस मत का समर्थन कर सकते हैं कि शारीरिक सुखों की अपेक्षा बौद्धिक अथवा मानसिक सुख अधिक मूल्यवान् तथा वांछनीय हैं। परंतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वयं मिल ने इन बौद्धिक सुखों की अधिक वांछनीयता के आधार के रूप में इन तथ्यों की ओर संकेत नहीं किया।

मिल के उपयोगितावाद के विरुद्ध चौथी गम्भीर आपत्ति यह है कि उनका सिद्धांत सुख के न्यायपूर्ण वितरण के लिए कोई स्पष्ट और संतोषजनक आधार प्रस्तुत नहीं करता। वास्तव में यही आपत्ति बैन्थम के सिद्धांत के विरुद्ध भी उठाई जा सकती है। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि बैन्थम तथा मिल दोनों ही निष्पक्षता अथवा समानता के सिद्धांत में विश्वास करते हैं और यह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का समान महत्त्व है। इन दोनों विचारकों ने उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' द्वारा भी सुख के न्यायपूर्ण वितरण की आवश्यकता मानी है। परन्तु उपयोगितावाद का मूल सिद्धांत बहुत अस्पष्ट है और यह मनुष्यों में सुख के न्यायपूर्ण वितरण का कोई निश्चित आधार प्रस्तुत नहीं करता। इस सिद्धांत द्वारा एक ओर तो बैन्थम तथा मिल यह कहते हैं कि अधिकतम व्यक्तियों को सुख प्राप्त होना चाहिए और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि इस सुख की मात्रा भी अधिकतम होनी चाहिए। इस प्रकार यह सिद्धांत मानवीय कर्मों के लिए ऐसे दो आधार प्रस्तुत करता है जिनमें पर्याप्त संघर्ष की सम्भावना है : उदाहरणार्थ एक कर्म (क) बहुत से व्यक्तियों को थोड़ा-थोड़ा सुख पहुंचाता है और दूसरा कर्म (ख) दो-तीन व्यक्तियों को बहुत सुख देता है। अब यह कहना बहुत कठिन है कि बैन्थम और मिल के मतानुसार इन दोनों कर्मों में से कौन-सा कर्म उचित है। अधिकतम व्यक्तियों को सुख पहुंचाने की दृष्टि से निश्चय ही (क) उचित है, किंतु यदि (ख) द्वारा उत्पन्न सुख की मात्रा (क) द्वारा उत्पन्न सुख की मात्रा की अपेक्षा थोड़ी-सी अधिक है तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन कर्मों में से उपयोगितावादियों के अनुसार कौन-सा कर्म हमारा कर्तव्य होगा। व्यक्तियों की संख्या की दृष्टि से प्रथम कर्म (क) ही हमारा कर्तव्य है, जबकि सुख की मात्रा की दृष्टि से हमें द्वितीय कर्म (ख) ही करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जब बहुत-से व्यक्तियों को सुख देने वाले कर्म से उत्पन्न सुख की मात्रा थोडी-सी कम और दो-तीन व्यक्तियों को सुख पहुंचाने वाले कर्म से उत्पन्न सुख की मात्रा थोडी-सी अधिक होती है तो बैन्थम और

मिल द्वारा प्रतिपादित 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का सिद्धांत हमें यह नहीं बता सकता कि नैतिक दृष्टि से इन दोनों कर्मों में से कौन-सा कर्म करना हमारा कर्तव्य है। वस्तुतः बैन्थम और मिल ने यह मान लिया है कि कोई भी कर्म या तो अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख पहुंचा सकता है अथवा कम से कम व्यक्तियों को कम से कम सुख दे सकता है। परन्तु, जैसा कि हमने अभी स्पष्ट किया है, व्यावहारिक जीवन में ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि केवल अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का सिद्धांत अनेक परिस्थितियों में हमारे कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता। यह सिद्धांत मनुष्यों में सुख के न्यायपूर्ण वितरण की आवश्यकता को तो स्वीकार करता है, किंतु अधिकतम सुख की उत्पत्ति तथा सभी व्यक्तियों में उसके न्यायपूर्ण वितरण में होने वाले द्वन्द्व को समाप्त करने का कोई स्पष्ट एवं निश्चित उपाय नहीं बताता। न्याय के सिद्धांत की दृष्टि से ऐसा कर्म उचित नहीं माना जा सकता जिसके कारण केवल दो-तीन व्यक्तियों को बहुत अधिक सुख प्राप्त होता है और शेष सभी व्यक्ति उस सुख से वंचित रह जाते हैं। अधिकतम व्यक्तियों की संख्या को महत्त्व देकर स्वयं बैन्थम और मिल ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। परन्तु उनके सिद्धांत के अनुसार किसी ऐसे कर्म को निश्चित रूप से उचित कहना बहुत कठिन है जो अपेक्षाकृत कम सुख उत्पन्न करते हुए सभी सम्बद्ध व्यक्तियों में उसका अधिक न्यायपूर्ण वितरण करता है। न्याय के सिद्धांत की दृष्टि से ऐसा कर्म निश्चय ही उचित होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न्याय के सिद्धांत तथा अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धांत में जो द्वन्द्व हो सकता है उसे केवल उपयोगितावाद के आधार पर समाप्त नहीं किया जा सकता, अतः मानवीय कर्तव्य-निर्धारण के लिए बैन्थम और मिल द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद को पूर्णतः संतोषप्रद सिद्धांत मानना उचित तथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।